

## गायत्र्यर्थ - विचार

(स्वामी परमानन्द जी द्वारा उपदिष्ट गायत्री का उनके विचारों के अनुरूप वर्णन)

इस लेख को लिखने के लिये पर्याप्त समय उपलब्ध नहीं था। शरदपूर्णिमा पर प्रकाशित करने की शीघ्रता में प्रूफ भी पूरा नहीं पढ़ा जा पा रहा है; इसके लिये क्षमा-याचना। भविष्य में इसमें परिवर्धन और संशोधन करके पुनः प्रकाशित किये जाने की आशा है। अभी यह उन लोगों की दृष्टि से लिखा गया है जो स्वामी परमानन्द जी (भक्तगण उन्हें महाराजी कहते थे) से परिचित नहीं हैं।

यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह लेख एक संकेतक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। कोई भी लेख या लेखक गायत्री तथा महाराजी के उससे संबंधित विचारों का पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकता, वर्णित अंश के पूर्ण याथातथ्य का भी अवकाश नहीं। फिर सबकी अपनी बुद्धिवृत्ति भी अलग-अलग होती है तथा अवस्था भी। सबकी आवश्यकताओं के अनुकूल कोई एक प्रस्तुति नहीं हो सकती। सो, इस लेख को पाठक एक उदाहरण के रूप में लें तथा अपनी आवश्यकता के अनुरूप महाराजी की पुस्तकों तथा अन्य शास्त्रों में वर्णित बातों से, उनके अविरोध तथा गायत्री के मुख्यभाव को अक्षुण्ण रखते हुए अपने लिये वस्तुस्थिति का रेखाचित्र और चिन्तन का मार्ग स्वयं बनायें।

एक बात यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि गायत्री सभी मतों की सामान्य सन्ध्या है। मनुष्य किसी भी मत का अनुगामी हो, उसके लिये गायत्री से सन्ध्या तथा उपासना करने का कर्तव्य पारम्परिक रूप से चलता आया है, अभी कुछ समय से लोगों में इसके प्रति जागरूकता कम हो जाने से इसमें किञ्चित् कमी दिखाई देती है। इस कमी को दूर करने की आवश्यकता है। इसके लिये गायत्री तथा उसका महत्त्व समझें और गायत्री से सोत्साह, श्रद्धा-भक्ति सहित सन्ध्या करें। जातिगत भेद तो महाराजी मानते ही नहीं थे, 'एक मनुष्य जाति है', ऐसा उन्होंने अपनी पुस्तिका 'सदाचार' में लिखवाया। स्त्रियों को सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार उन्होंने दिये तथा इस बारे में स्पष्ट निर्देश भी 'सदाचार' में लिखवाया। अतः गायत्री के प्रयोग के लिये अपने वर्ण तथा लिंग आदि के आधार पर मन में सन्देह, भय तथा संकोच की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

आश्रम की पुरानी पुस्तकें तथा महाराजी द्वारा लिखवायी गयी पुस्तकें अब एक वैबसाइट पर डाउनलोड के लिये उपलब्ध हैं। महाराजी द्वारा उपदिष्ट गायत्री, आश्रम से छपनेवाली मासिक पत्रिका 'भक्ति' में जिस रूप में छपी, वह भी इसी साइट पर उपलब्ध है। इस साइट का URL है :

[www.kakha.org](http://www.kakha.org)

इस लेख में आश्रम की जिन पुस्तकों से उद्धरण लिये गये हैं, वे इस वैबसाइट पर उपलब्ध हैं।

श्री भगवद्भक्ति आश्रम के संस्थापक स्वामी परमानन्द जी ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म आदि मुख्य मार्गों के विज्ञ थे। उन्होंने मनुष्यमात्र के लिये गायत्री मन्त्र का उपदेश किया। गायत्री मन्त्र की उन्होंने संक्षिप्त व्याख्या की तथा उसे पुस्तिका रूप में छपवाकर लाखों की संख्या में निःशुल्क वितरित कराया।

प्रस्तुत लेख में गायत्री की महाराजी ने जो संक्षिप्त व्याख्या की, उसी का विस्तार उनके विचारों के आधार पर किया गया है। स्वाभाविक है कि इसमें लेखक की बुद्धि की सीमा के अतिरिक्त महाराजी के विचारों के विषय में उसकी अपनी सीमित समझ की भी कठिनाई है। पाठकों से निवेदन है कि यदि कहीं महाराजी के समतुल्य प्रकरण के लिपिबद्ध उपदेशों से यहां प्रस्तुत सामग्री के सामञ्जस्य का अभाव दृष्टिगत हो तो सूचित करने की कृपा अवश्य करें। इस के लिये webmaster@kakha.net को email कर सकते हैं।

महाराजी ने आश्रम का प्रथम उद्देश्य 'श्री भगवान की भक्ति का प्रचार करना' निश्चित किया। भक्ति से सम्बन्धित चीजें उनके द्वारा लिखवायी गयी पुस्तक 'भक्तिज्ञानयोग संग्रह' के 'भक्ति मार्गम्' नामक लेख में स्पष्टतया मिलती हैं। उनमें से यहां कुछ आवश्यक बातों को लिया गया है। महाराजी के अन्य उपदेशों तथा लेखों से भी महत्त्वपूर्ण विषयों से सम्बन्धित तथा प्रकरण के अनुरूप वाक्यों को लिया है। आचार्य शङ्कर का भी महाराजी कई जगह उल्लेख करते हैं, उन्हें 'भगवान शङ्कर' कहकर उनके निर्वाणषट्क को तो महाराजी ने एक पुस्तक में पूरा ही उद्धृत किया है, अतः आचार्य शङ्कर की उपनिषद् व्याख्याओं में से भी विषय को स्पष्ट करने वाली सामग्री ली गयी है। उद्धरण अधिकतर कोष्ठक या उद्धरणचिह्नों में दिये गये हैं।

गायत्री, जैसे महाराजी ने बताया, सम्पूर्ण साधना है, साध्य भी यही है - 'न भिन्नां प्रतिपद्येत गायत्रीं ब्रह्मणा सह', अर्थात् गायत्री को ब्रह्म से भिन्न न समझे; प्रक्रिया भी यही है - 'गायन्तं त्रायते यतः' (यह गानेवाले को संसार सागर से पार उतार देती है; अतः गाना अर्थात् इसका यथानिर्दिष्ट जप करना ही प्रक्रिया है) तथा 'सोऽहमस्मीत्युपासीत' ('वह मैं हूं' ऐसा ध्यान करे, यह प्रक्रिया है)। क्या साधक भी यही है - 'सोऽहमस्मीत्युपासीत' ('वह मैं हूं') ?

गायत्री का निर्देश तो महाराजी ने सभी के लिये किया - मनुष्यमात्र के लिये। वे ब्रह्मस्थ महात्मा थे। उनका यह आदेश है इसलिये तो यह शिरोधार्य तथा कर्तव्य है ही, इसके अतिरिक्त यह शास्त्र में भी वर्णित है और परम्परा से प्रचलित है। फिर भी यह समझना उचित है कि यह आदेश क्यों है। गायत्री से चार बार सन्ध्या करे, गायत्री का यथासंभव निरन्तर मानसिक जप करे, ऐसा भी महाराजी का निर्देश है। 'भगवान का भजन करे', ऐसा तो उन्होंने कहा ही है, सो भजन क्या है और भजन में गायत्री का क्या महत्त्व है यह भी जानना है।

सबसे पहले संक्षेप में महाराजी ने गायत्री के विषय में जो कहा उसे देख लें। भक्ति पत्रिका में छपे 'गायत्री जप प्रकार' नामक लेख में कहा गया है :

(महर्षि व्यास जी के श्लोक 'न भिन्नां प्रतिपद्येत ...' का उद्धरण देकर कहते हैं —)  
“यही गायत्री का अर्थ है कि हम उस परमात्मा का अभेद रूप से ध्यान करें जो हमारी बुद्धियों को ब्रह्मात्मैक्य रूप ज्ञान के लिये प्रेरणा करे वा करता है।”

(इसके उपरान्त कहते हैं —)

“सच्चिदानन्द स्वरूप ऐसा जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि मैं नहीं हूँ। यह सब भ्रान्ति है।”

आगे दिये गये उद्धरण 'भक्ति' पत्रिका में छपे 'गायत्री' नामक लेख से लिये गये हैं।

———— भक्ति पत्रिका के गायत्री नामक लेख से उद्धरण प्रारम्भ ————

.....

गायत्री मन्त्र में १ ॐ , २ भूः , ३ भुवः , ४ स्वः , ५ तत् , ६ सवितुः , ७ वरेण्यम् , ८ भर्गः , ९ देवस्य यह नौ नाम हैं। इन नौ नामों में भगवान् की स्तुति की गई है। 'धीमहि' उपासना है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' यह प्रार्थना है। इसमें पांच अवसान हैं। “ॐ” यहाँ प्रथम अवसान है। 'भूर्भुवः स्वः' दूसरा, 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' तीसरा, 'भर्गो देवस्य धीमहि' चौथा, 'धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ' यहाँ पांचवां अवसान है। प्रत्येक अवसान पर मन्त्र जपते समय कुछ ठहरना चाहिये।

.....

यह गायत्री मन्त्र आदि मन्त्र है। अन्य मतों की तो बात ही क्या है वेद में भी इसके अतिरिक्त ऐसा कोई मन्त्र नहीं है जिसमें एक ही मन्त्र में भगवान् की स्तुति उपासना और प्रार्थना तीनों हों। भगवान् के भजन में पहले भगवान् की स्तुति की जाती है, फिर उपासना ध्यान किया जाता है और पश्चात् भगवान् से प्रार्थना की जाती है। गायत्री मन्त्र में स्तुति, प्रार्थना और उपासना तीनों हैं।

.....

मनु भगवान् ने कहा है कि विधि यज्ञ से जप यज्ञ दशगुणा फलदायक है, इसमें भी जिसमें होठ ही हिलें शतगुणा और मानसिक सहस्रगुणा फल देता है। लेटा लेटा, बैठा बैठा, डोलता फिरता जिस भी अवस्था में हो मनुष्य गायत्री का मानसिक जप कर सकता है। इसके जपने में किसी प्रकार का भी विधि निषेध नहीं है। इसके जपने से सब कामना पूरी होती हैं और अन्त में स्वर्गधाम और मोक्ष की

प्राप्ति होती है। इस मन्त्र से प्रातः मध्याह्न, सायंकाल और अर्ध रात्रि के समय इस प्रकार चार बार सन्ध्या करनी चाहिये।

.....

नौ नामों से भगवान् की स्तुति करे फिर “धीमहि”से भगवान् का इस प्रकार ध्यान करे :

“थोऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहमस्मि ओं खं ब्रह्म”

कि जो सूर्य में स्वर्ण जैसे रंग का प्रकाशस्वरूप पुरुष है वह मैं हूँ। फिर ‘धियो यो नः प्रचोदयात्’ से प्रार्थना करे। अर्थ सहित चाहे एक बार जपो वह भी कल्याण के देने वाला है। वेद का मन्त्र है, भगवान् की आज्ञा है, इससे पाप नष्ट होते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है।

———— भक्ति पत्रिका के गायत्री नामक लेख से उद्धरण समाप्त ————

गायत्री जपो, गायत्री मन्त्र से भगवान् (‘सब ब्रह्माण्ड को सत्तास्फूर्तिदाता’) का भजन करो, यह महाराजी की आज्ञा है। जप को अर्थ का चिन्तन करते हुवे करो, यह उनकी बतायी विधि है। महाराजी के बताये हुवे अर्थ के अनुसार चिन्तन करो – यह उत्तम है। एक बार उन्होंने गुरुपूर्णिमा के अवसर पर उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति के लिये आज्ञा दी थी कि ‘हजार लोगों को गायत्री याद करावो, ये ही सच्ची गुरुपूजा है’। अन्तिम वर्षों में वे सामान्य रूप से गुरुमन्त्र नहीं देते थे अपितु कहते थे कि ‘गायत्री मन्त्र ही गुरुमन्त्र है’। ऐसा भी नहीं कि बाद में और उच्चतर गुरुमन्त्र मिलेगा — गायत्री ब्रह्म से भिन्न नहीं है (‘न भिन्नां प्रतिपद्येत् गायत्रीं ब्रह्मणा सह’)

अब इन बातों पर विचार करें। प्रथम तो भगवान् का भजन ही क्यों करना चाहिये ? पहले देखें कि भजन क्या है। भजन के विषय में महाराजी ने कहा कि ‘मन का तदाकार हो जाना भजन है’। तो भगवान् के भजन का अर्थ हुवा मन का भगवदाकार हो जाना। वह क्यों इष्ट है ? महाराजी ने एक उपदेश में कहा कि “सदाचारी जीवन का सबसे बड़ा धर्म यह है कि मनुष्य अपने आपको जाने”। यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट ही है क्योंकि हमारा सारा जीवन, क्रिया, इच्छा और आशाएं, उद्यम और चेष्टा अपने बारे में अपनी मान्यता तथा अपनी संभावनाओं के विषय में हमारी धारणा पर निर्भर करते हैं। पर अपने आप को जानने की बात कहने की आवश्यकता क्यों हुई? क्या अभी हम सब अपने आप को नहीं जानते ? अभी हम अपने को शरीर, इन्द्रियां तथा अन्तःकरण और इन सबकी क्षमताएं मानते हैं। यह मान्यता इतनी सहज और दृढ़ है कि कभी इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती कि यह मान्यता सत्य है

भी या नहीं। तनिक भी विचार से स्पष्ट दिखायी देता है कि ये शरीरादि कोई भी हम नहीं हो सकते – हमने इन्हें बनाया नहीं, इनके विषय में हमें संपूर्ण जानकारी नहीं, इन पर हमारा पूरा नियन्त्रण नहीं, यहां तक कि यह 'मैं' की भावना, जो यह कहती है कि यह शरीरादि मैं हूं, इसका भी अन्वेषण हमने कभी नहीं किया; जब ऐसी स्थिति है तो यह शरीरादि हम कैसे हो सकते हैं? फिर वे माता-पिता, जिन्हें अपने ही बारे में हमारी ही तरह जानकारी नहीं है, हमें कैसे बना सकते थे ? यदि अन्य किसी ने हमें बनाया है तो जो कुछ भी हम हैं वह वास्तव में बनानेवाले का है, बल्कि बनानेवाला स्वयं ही है, हम उसीकी अभिव्यक्ति हैं; और यह भी वास्तविकता है या हमारी अनजान बुद्धि की एक और भ्रान्तिपूर्ण प्रतीति ? अपने चारों ओर हम संसार को देखते हैं। उसके बारे में भी यह नहीं जानते कि यह कहां से आया, किसने इसे बनाया, कौन इसे सुनियोजित ढंग से चला रहा है? इस संसार से हमारा क्या संबंध है? हमारे लिये क्या उचित है?

पूर्वोक्त उपदेश में ही महाराजी ने थोड़ा आगे चलकर कहा है कि “धर्म का तत्त्व यह है कि मनुष्य अपने आपको स्वतन्त्र रखे”। स्वतन्त्रता तो सब स्वतः स्वाभाविक भी चाहते ही हैं। बस कठिनाई यह है कि बाह्य, इन्द्रियजन्य सुख की तृष्णा में हम अपनी स्वतन्त्रता स्वयं ही त्याग देते हैं और फलस्वरूप दुःख के भागी होते हैं। यह हमें सूझता ही नहीं कि स्वतन्त्रता ही वास्तविक सुख है, और बाह्य सुख की तृष्णा हमें उस स्वतन्त्रता रूपी सच्चे सुख से, जो कि हमारा स्वरूप ही है, वंचित कर देती है। और यदि बाद में यह बात हमें जान भी पड़ती है तो तब तक भोग का संस्कार दृढ़ हो चुका होने के कारण उससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन होता है।

गायत्री हमारे स्वरूप से संबन्धित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर हमें देती है। अभी सब विस्तार से लिखने का तो समय नहीं है, यथासंभव अभी तथा और अधिक बाद के संस्करणों में लिखने की संभावना है।

गायत्री में पहले जिन 9 नामों से स्तुति की गयी है, वे सभी नाम सार्थक हैं, भगवान के स्वरूप और गुणों के अनुरूप हैं। इनमें एक नाम 'वरेण्य' के द्वारा बताया गया है कि वह भगवान वरण – ग्रहण करने के योग्य है। यह वरेण्यता अकारण नहीं है, उनके गुणों तथा उनसे ज्ञात उनके माहात्म्य पर आधारित है। वरण बिना माहात्म्यज्ञान के नहीं है। यह नाम कर्तव्यतासूचक भी है। वह भगवान वरण करने के योग्य है, अतः हमें उसे वरण करना ही चाहिये। उसके उपरान्त 'धीमहि' से भगवान का ध्यान बताया गया है, जो कि ऐक्यभाव से करना है। इस विधि से हमें हमारे स्वरूप का ज्ञान तथा स्मरण कराया जा रहा है, उसका ध्यान कराया जा रहा है। इस स्वरूप के ज्ञान से हमारा परिच्छिन्नभाव समाप्त होकर दुःखों तथा बद्धभाव का अन्त होगा। फिर 'धियो यो नः प्रचोदयात्' में भगवान से प्रार्थना है कि हमें ऐसी बुद्धि दें जिसमें यह स्वरूपज्ञान स्थिरता से टिके और हमारा अनुभव और व्यवहार हमारे स्वरूप के अनुकूल हो।

भजन के बारे में महाराजी ने कहा ही है कि “मन का तदाकार हो जाना

भजन है”। सो भगवान के भजन से तात्पर्य यह है कि मन को भगवदाकार हो जाना चाहिये। इसके लिये दो बातें आवश्यक हैं — भगवान के स्वरूप का ज्ञान और फिर मन को तदाकार करने की विधि। तो भगवान के स्वरूप का ज्ञान तो स्तुति में आये उनके नामों और उनसे पता चलनेवाले उनके गुणों से हो ही जाता है। उसके बाद तदाकार करने के लिये ऐक्यभाव से ध्यान किया जाता है। यह तथ्य तो प्रसिद्ध ही है कि मन जिस के बारे में भी चिन्तन और विचार करता है, वह उसी के आकार का हो जाता है। इस विषय में महात्मा सुन्दरदासजी का यह सवैया उद्धृत किया जाता है :

जो मन नारी की ओर निहारत तो मन होत है ताही को रूपा।  
जो मन काहू से क्रोध करे तब क्रोधमयी हो जाये तहूपा॥  
जो मन माया ही माया रटे नित तो मन डुबत माया के कूपा।  
सुन्दर जो मन ब्रह्म विचारत तो मन होत है ब्रह्म स्वरूपा॥

सो, मन को तदाकार करने की विधि तच्चिन्तन, तद्ध्यान है। वह चिन्तन और ध्यान यदि ऐक्यभाव से किया जाये तो उसका सही और पूरा फल मिल सकता है। ध्यान यदि भगवान को अन्य या भिन्न मानकर किया जायेगा तो देहात्मभाव की जड़, जो सारे दुःखों और बन्धन की भावना का कारण है, वह कटेगी नहीं। उपनिषद् में आता है :

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते  
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।  
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा  
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

अर्थात् स्वयं तथा प्रेरयिता को पृथक् मानने वाला संसार चक्र में भ्रमित ही रहता है तथा ऐक्य भाव वाला मोक्ष को प्राप्त करता है।

स्तुति और उपासना के बाद आती है प्रार्थना। सच्चे हृदय से की गयी प्रार्थना का प्रभाव तो सर्वविदित है। ‘तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति’, ऐसा नारद जी ने भक्तिसूत्र में कहा है। बिना परम व्याकुलता के सुधार होना कठिन है। किसी भी चीज के बारे में जब हमारे मन में अदम्य लालसा उत्पन्न हो जाती है, उस चीज के बिना मन असह्य दुःख का अनुभव करता है, तो चिन्तन और विचार की दिशा फिर एकाग्र हो ही जाती है। उसी वस्तु का चिन्तन, उसे प्राप्त करने के उपाय के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मन को भाता नहीं, सब व्यर्थ प्रतीत होता है। अपनी बद्ध दशा पर ग्लानि, उस बद्ध दशा में संसार की सब वस्तुओं की व्यर्थता, मात्र एक बन्धनमुक्ति की इच्छा हुवे बिना क्या कुछ प्रगति हो सकती है ? ऐसी अवस्था में यदि हमें बतलाया जाये कि भगवान की ही रची ये सारी सृष्टि है, वे स्वभाव से ही मुक्त हैं, हम उनसे भिन्न नहीं हैं और उनका ऐक्यभाव से ध्यान करने से हम अपने मिथ्या देहात्मभाव से मुक्त हो सकते हैं तथा अपने दुःखों का अन्त कर सकते हैं, तो फिर ध्यान, और ध्यान में हुवे दुःखमुक्ति के अनुभव के

बाद, उस ध्यान की अवस्था को स्थिर करने के लिये प्रार्थना स्वयं होगी। और यदि किसी विकल्प के कारण ध्यान में पर्याप्त सफलता न मिली तो प्रार्थना और भी हार्दिक होगी। दोनों ही प्रकार से की गयी प्रार्थना का फल उल्लेखनीय होगा।

इस वर्णन से भगवान का भजन करने की आवश्यकता का उत्तर हमें मिला : स्वरूपज्ञान से दुःखों का अन्त तथा बन्धन से मुक्ति। अन्य दृष्टियों से भी भजन इष्ट है। उदाहरणार्थ कह सकते हैं कि यों तो हमें अपने मनुष्यत्व का बड़ा अभिमान रहता है, पर ये मनुष्यत्व – ‘मनुष्य होना’ क्या है ? मनुष्य शरीर मनुष्यत्व के लिये पर्याप्त नहीं है। कारण कि शरीर से तो मनुष्य अन्य प्राणियों से कुछ विशेष है नहीं। कहा भी है कि —

आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

अर्थात् “भोजन करना, सोना, मृत्यु तथा दुःख से डरना और सन्तानोत्पत्ति, ये सब तो पशुओं में भी मनुष्यों के समान हैं ही, इसलिये मात्र इतना होने से कोई मनुष्य नहीं बनता। धर्म ही एक ऐसी विशेषता है जो मनुष्यों में है (होनी चाहिये) और पशुओं में नहीं है। इसलिये धर्म से रहित व्यक्तियों की तो पशुओं से ही समानता है अर्थात् वे पशु ही हैं।” और धर्म की एक परिभाषा तो हम महाराजी के शब्दों में देख ही चुके हैं : “धर्म का तत्त्व यह है कि मनुष्य अपने आप को स्वतन्त्र रखे”। सो इस स्वतन्त्रता का जब तक ज्ञान नहीं, उसके लिये प्रयत्न नहीं, उसकी प्राप्ति नहीं, तबतक तो मनुष्यों में गिनती नहीं की जा सकती। भगवान के भजन से अर्थात् मन को भगवदाकार अर्थात् सर्वात्मक बनाने से (जो कि गायत्री जप द्वारा साध्य है) स्वरूप का ज्ञान होता है, स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है।

ज्ञान की सात भूमिकाओं (अवस्थाओं) में पहली है – शुभेच्छा। उसकी परिभाषा ऐसी बतायी गयी है :

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्र सज्जनैः ।

वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥

अर्थात् “मैं मूर्ख की तरह क्यों बैठा हूँ ? शास्त्र और सज्जनों की सहायता से मैं सत्य की, वास्तविकता की खोज करूँगा। वैराग्यपूर्वक ऐसा यदि मनुष्य सोचता है, तो वह शुभेच्छा है।” इसमें ‘वैराग्यपूर्वक’ यह कसौटी है, यदि सत्य का अन्वेषण करने की इच्छा तो है, किन्तु वैराग्य नहीं है तो वह इच्छा या तो बिलकुल सतही है, अस्थिर है, और यदि उसमें कुछ गहराई आन्तरिकता है भी तो भी वो टिकेगी नहीं, संसार का आकर्षण उसे टिकने नहीं देगा। ऐसे में भी गायत्रीजप लाभकारी है। हमारे स्वरूप और उसकी असीम संभावनाओं का बार बार पुनःस्मरण हममें उस दिशा में प्रगति करने की इच्छा जगायेगा।

वे, जिन्हें अपनी दशा (दुर्दशा, मनुष्य होकर भी मनुष्यता से वंचित रहने की स्थिति) का ज्ञान नहीं है, होश नहीं है, यदि मात्र निर्देशानुसार गायत्री का जप करें, तो उन्हें भी श्रेयमार्ग में रुचि हो जायेगी, इसमें संदेह नहीं। जीवन में किसी

विशेष समस्या के न होने से मन को बाह्य संसार में ही रमण करने की आदत पड़ जाती है। अपने स्वरूप के ज्ञान की आवश्यकता उसे प्रतीत ही नहीं होती। ऐसी अवस्था में, गायत्रीजप हमें अपने स्वरूप और उसकी क्षमताओं की याद दिलाता है, जिसकी तुलना में यह शरीर और बाह्य संसार तुलना के योग्य नहीं जान पड़ते।

सत्य का, अपने मूलकारण का, स्वरूप का, हम क्या हैं इसका, अन्वेषण, ज्ञान और प्राप्ति के प्रयास के लिये तो, कोई विशेष कारण होने की, बताये जाने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिये। वह तो हमारी प्रथम इच्छा होनी चाहिये, हमारा सर्वोपरि प्रयास उसी के लिये होना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो समझो कि समझ है ही नहीं। गायत्रीजप तो प्रत्येक स्थिति में लाभ करेगा ही — अज्ञान की सुषुप्ति से जगायेगा, करनेवालों के उत्साह, श्रद्धा-भक्ति को बढ़ायेगा और श्रद्धा-भक्ति से करनेवालों को स्वरूपज्ञान और स्वाराज्य – स्वतन्त्रता, मुक्ति प्राप्त करायेगा।

भजन करें कबतक — जब तक द्वैत भावना मिट ना जाये। महाराजी के एक उपदेश में आता है :

“उपासना और प्रार्थना इसी का नाम है जब रोम-रोम में परममित्र परमेश्वर का प्रेम प्रवाहित होने लगे, अपना आपा मिट जावे, सब वही विदित हो, जैसाकि गान्धारी पांडवगीता में कहती हैं :

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।  
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥”

सो करो तबतक —

‘यावत्तद्देवतादिस्वरूपात्माभिमानाभिव्यक्तिरिति लौकिकात्माभिमानवत्’, अर्थात् जबतक उस सच्चे अहं में अर्थात् परमात्मा में, इस मिथ्या अहं (शरीरादि को ‘मैं’ समझने) के समान ही सहज, स्वाभाविक रूप से आत्माभिमान (मैंपने की भावना) न हो जाये। ऐसी परिभाषा उपासना की आचार्य शङ्कर उपनिषद् भाष्य में देते हैं। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि “ज्ञापकं हि शास्त्रम् न कारकमिति स्थितिः” (शास्त्र मात्र ज्ञान बतानेवाला है, कुछ करनेवाला नहीं है) — शास्त्र तो स्वयं कुछ करनेवाला है नहीं, करना तो हम ही है — बीमारी भी न जानने के कारण ही है, सो जब तक जान न लिया जाये तब तक करना ही होगा ; जानना मतलब स्वतः स्वाभाविक अनायास अच्युत निर्विकल्प रूप से उसके अनुसार आचरण होना — वन में व्याध के द्वारा पालित राजपुत्र को अपने जन्म की वास्तविकता तथा पूर्वजों के आचरण का पता चलने पर उसके आचरण में हुवे परिवर्तन के अनुसार। और भी, माण्डूक्य कारिका के अन्तिम श्लोक के अन्तिम पाद — ‘नमस्कुर्मो यथाबलम्’ के भाष्य में वे कहते हैं — ‘अव्यवहार्यमपि व्यवहारगोचरमापाद्य यथाबलं यथाशक्तीत्यर्थः’ — अर्थात् यद्यपि परब्रह्म व्यवहार का विषय नहीं है तथापि उसे व्यवहार योग्य मानकर यथाशक्ति तद्रूप होकर तदनुसार आचरण करना है। सो, अव्यवहार्य का व्यवहार कैसे हो — ‘महाजनो



येन गतः स पन्थाः', महात्माओं का, महाराजी का बताया रास्ता पन्थ है — भगवान का भजन, सेवा आदि; सबसे पहले गुरु की आज्ञा का पालन, उसमें गायत्री जप भी प्रमुखता से है, जिसके प्रचार को उन्होंने स्वयं सच्ची गुरुपूजा कहा था ।

सो, भगवान के भजन में तीन अंग होते हैं । पहले होती है स्तुति अर्थात् प्रशंसा, बड़ाई; यह स्वरूप और गुणों के वर्णन द्वारा की जाती है, और इसलिये की जाती है ताकि उसके (भगवान के) माहात्म्य का ज्ञान हो। यह माहात्म्यज्ञान इसलिये आवश्यक है ताकि उसके प्रति किया गया प्रेम, भक्तिरूप हो व्यभिचार नहीं, क्योंकि बिना माहात्म्यज्ञान के किया गया प्रेम व्यभिचार है — महाराजी ने 'भक्ति-मार्गम्' नामक लेख में लिखवाया है :

“... जिसकी भक्ति की जाये, उसके माहात्म्यका ज्ञान रहे अर्थात् उसकी श्रेष्ठताका सदैव स्मरण रहे कि बिना भक्ति एक व्यभिचारियों के प्रेमके बराबर है।”  
और माहात्म्यज्ञान इसलिये भी आवश्यक है ताकि उसका ध्यान किया जा सके — 'बिना ज्ञान के ध्यान नहीं और बिना ध्यान के ज्ञान नहीं'), यह उन्होंने सदाचार में लिखवाया, तथा इसलिये भी आवश्यक है ताकि उसमें (भगवान में, उनके भजन में) रुचि हो क्योंकि बिना माहात्म्यज्ञान के रुचि होनी कठिन है। सो, गायत्री में भगवान के 9 सार्थक नामों से स्तुति की जाती है।

भजन का दूसरा अंग है 'उपासना'; 'उपासना अर्थात् ध्यान अर्थात् निरन्तर विचार', 'उपासना अर्थात् एक हो जाना' । निरन्तर अर्थात् बिना समय के व्यवधान के, तैलधारावत्, तथा अपने और ध्येय में अन्तर न करते हुवे — 'जो तुम हो सोही हम हैं और जो हम हैं सो ही तुम हो, ऐसे ऐक्य भाव से हम तुम्हारा ध्यान करते हैं', यह वाक्य उन्होंने आश्रम में नित्य की जाने वाली प्रार्थना में लिखवाया ।'; निरन्तर का अर्थ आगे और भी बताया है। सो, स्तुति के बाद फिर 'धीमहि' से भगवान का इस प्रकार ध्यान करे कि —

'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहमस्मि ॐ खं ब्रह्म'

अर्थात् 'जो सूर्य में स्वर्ण जैसे रंग का प्रकाशस्वरूप पुरुष है, वह मैं हूँ' ।

इसका अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं :

'जो सूर्य' — जोकि समस्त संसार को उत्पन्न करनेवाला और प्रेरणा करनेवाला है (सवितुः), जो हम सबका आत्मा है (वेद में आता है — 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुश्च');

'में' — उसके बीच में, उसका भी सार, तत्त्व, आत्मा, परमात्मा। परमात्मा न कहने से अनवस्था दोष की उपलब्धि होगी, उसका निषेध करने के लिये परमात्मा शब्द कहकर यह प्रकट किया जाता है कि 'वह सबका आत्मा है, उसका आत्मा और कोई नहीं है';

'स्वर्ण जैसे रंग का' — स्वयंज्योति, कभी मलिन न होनेवाला (उपनिषद्, शाङ्करभाष्य);

‘प्रकाशस्वरूप’ — महाराजी के एक उपदेश में प्रकाश का अर्थ किया गया है ‘विस्तार की इच्छा’। साथ ही यह भी बताया गया है कि मात्र विस्तार की इच्छा ही नहीं ‘उसको पूरा करने की शक्ति भी’। इस प्रकार ‘प्रकाशस्वरूप’ का अर्थ होता है – विस्तार की इच्छा और उसको पूरा करने की शक्ति भी है अपना रूप जिसका;

‘पुरुष’ — ‘पुरुषः सर्वपूरणात्’ (उपनिषद् शाङ्करभाष्य), अर्थात् सब जिसके द्वारा पूरित हैं – अर्थात् जो सब बना हुआ है, जिसके अतिरिक्त किसी भी वस्तु आदि में अन्य कुछ भी नहीं है, सभी कुछ एकमात्र जिसके द्वारा ही बना हुआ – पूरित है। पुरुष का एक और अर्थ है – ‘पूर्णत्वात् पुरुषः’ (उपनिषद् शाङ्करभाष्य) – अर्थात् जो पूर्ण है, अर्थात् जिसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है (क्योंकि और कुछ भी होने से, अर्थात् अन्य किसी भी वस्तु आदि का अस्तित्व होने से, वह अपूर्ण हो जाता), और न केवल यही बात नहीं कि ‘नहीं है’, बल्कि नहीं हो सकता है (महाराजी ने कहा — ‘ये सब बना तना ब्रह्म ही खड़ा है, उसके अतिरिक्त न कुछ हुआ, न होगा, न है’);

‘है’ — ऐसा जो परमात्मा है;

‘वह मैं हूँ’ — वह परमात्मा मैं हूँ। यह शरीरादि जो ‘मैं’ जान पड़ते हैं, यह अविद्या है, भ्रम है।

भजन का तीसरा और अन्तिम अंग है – प्रार्थना। सो गायत्री में उपर्युक्त प्रकार से ध्यान करने के बाद फिर ‘धियो यो नः प्रचोदयात्’ से प्रार्थना करे। इस प्रार्थना के शब्दों का अर्थ इस लेख के अन्तिम भाग में अन्य सभी शब्दों के अर्थ के साथ दिया गया है।

मनुष्य के लिये साधारण नियमों (अर्थात् जो समान रूप से सब पर लागू हों) में महाराजी ने पहला नियम बताया कि —

“मनुष्य का पहला कर्तव्य है कि सद्गुरु की शरण में जावे और उनकी कृपा सम्पादन करने के लिये शुद्ध चित्त से उनकी सेवा करे”।

यही ‘सदाचार’ के आरम्भ में भी उन्होंने लिखवाया। आश्रम के एक भक्त ‘मुन्शी जी’ द्वारा लिखित पुस्तक में वर्णन है कि —

‘महाराजी से यह पूछे जाने पर कि “सेवाओं में सबसे बड़ी सेवा कौनसी है ?”, उन्होंने कहा “आज्ञा मानना”।’

आज्ञा मानने से अर्थ आज्ञापालन लेना चाहिये, पालन ऐसा जैसा मनुष्य अपना करता है। बल्कि उससे भी बढ़कर। महाराजी ने एक समय बताया था कि आज्ञापालन ऐसा होता है कि यदि गुरु यह कहे कि पेड़ से उलटा लटक जा तो शिष्य को वैसा ही करना चाहिये, चाहे इससे उसका प्राणान्त ही क्यों न हो जाये।

क्योंकि यह मनुष्य का पहला कर्तव्य है, कर्तव्य यानी करने लायक काम, सो यही मनुष्य को वास्तव में मनुष्य बनाता है, क्योंकि जो व्यक्ति सबसे पहले करने लायक काम को ही न करे वह कैसे मनुष्य कहा जा सकता है (यथा –

गायत्री माहात्म्य में आता है कि “जो विप्र प्रातःकाल और सायंकाल की सन्ध्या नहीं करते हैं वे ब्राह्मण किस तरह से स्मरण किये जाते हैं ?) ? इस मनुष्य के लिये बताये गये प्रथम कर्तव्य को किये बिना तो “आहार निद्रा भय मैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्” के अनुसार वह पशु ही गिना जाने योग्य है; वैसे भी शरीर से तो मनुष्य और पशु में कुछ अन्तर है नहीं । अब यह भी जानना है कि यह ‘पहला कर्तव्य’ क्यों बताया गया है। महाराजी ने ही कहा है कि “सदाचारी जीवन में मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म यह है कि अपने आप को जाने”। सो ‘सद्गुरु की शरण में जावे’ आदि का प्रथम कर्तव्य उसी “अपने आप को जानने के सबसे बड़े धर्म” का पालन करने के लिये ही है।

सो, प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्तव्य है कि सद्गुरु की शरण में जावे और उनकी कृपा सम्पादन करने के लिये शुद्ध चित्त से उनकी सेवा करे। इसका अर्थ इस प्रकार समझ सकते हैं :

‘शरण में जावे’ — उनके अधीन हो जाय, उनकी अधीनता स्वीकार करे।

‘उनकी कृपा’ — जो एकमात्र सार वस्तु है, जिससे भक्ति और भगवान मिलते हैं, और जो करवानी नहीं पड़ती, बल्कि जिसकी अनन्त राशि सर्वत्र सदा प्रकीर्ण है, जिसे मात्र सारी की सारी को प्राप्त करने की आवश्यकता है।

‘भक्ति’ अर्थात् भगवान के माहात्म्य का ज्ञान, और उसके आधार पर, उसके फलस्वरूप, उनसे स्वतः होने वाला प्रेम। भगवान का माहात्म्य क्या है ? छान्दोग्य वाला ‘भूमा’ — सब कुछ वही है। ज्ञान, ऐसा ज्ञान कि जिसके फलस्वरूप उनसे (भगवान से) हो प्रेम, करना न पड़े, स्वतः हो। ज्ञान से ज्ञान का परिणाम — भावना ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् ऐसी वृत्ति जो आगे बतलायी जाती है, और वो अपने आप तो बनेगी नहीं, बनानी होगी, आज्ञा पालन ही उसे बनाने का साधन है। ज्ञान का यह अर्थ इसलिये समझना है क्योंकि मात्र सुन लेना तथा उसे याद कर लेना ज्ञान नहीं है — उतने मात्र से जो ज्ञान का फल स्वाराज्य सुना जाता है, वह प्राप्त नहीं होता, यह इस बात में प्रत्यक्ष प्रमाण है। गीता में भी — ‘चतुर्विधा भजन्ते माम्’ में ज्ञानी को ‘नित्ययुक्त’ और ‘एकभक्ति’ बताया, मात्र सुन लेने से तो भक्ति तो दूर की बात है, आवश्यक नहीं कि भगवान में रुचि भी हो जाये। बिना संस्कार के तो

‘न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः’

(दुष्कर्मी मूढ मेरा आश्रय नहीं लेते) सो ऐसे ही रहनेवाले हैं। और यहां ज्ञान अर्थात् भगवान के प्रति भावना में ही फ़रक है, भगवान के माहात्म्य में नहीं, क्योंकि माहात्म्य तो सदा ही वैसा ही है, चाहे किसी को ज्ञान हो या न हो।

‘कि उसके फलस्वरूप हो उनसे प्रेम’ — अर्थात् अपने से बढ़कर चाहना,

मात्र आकर्षण या खिंचाव से यहां काम नहीं चलने वाला। प्रेम — अर्थात् सम्पूर्ण आचारों का उसमें अर्पण — ‘तदर्पिताखिलाचारता’ (नारद भक्ति सूत्र से)

‘और भगवान मिलते हैं’ (भक्ति और भगवान दो नहीं हैं)

और जो उनका स्वरूप ही है, इसलिये जो करवानी नहीं पड़ती, बल्कि जिसकी अनन्त राशि सर्वत्र सदा प्रकीर्ण है, अँटी पड़ी है

‘सम्पादन करने के लिये’ — सम्पूर्ण रूप से सम्यक प्रकार से प्राप्त करने के लिये — सम्पूर्ण इसलिये क्योंकि महाराजी ने कहा है कि “भक्ति महात्माओं की कृपा अथवा ईश्वर कृपांश से प्राप्त होती है”। सम्यक प्रकार से प्राप्त काने के लिये — ब्रह्म सम्पद्यते तदा — और ये उनका खेल ही है कि गुरु की (महात्माओं की) कृपा तो पूर्ण चाहिये और ईश्वर के कृपांश से ही भक्ति मिल जाती है, सो उनकी इच्छा, या इसे यों भी समझ सकते हैं कि भगवान को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं और प्रत्येक उनकी कृपा से ही प्राप्त होता है, अतः महात्मा की कृपा से एक मार्ग प्राप्त कर लेने से उनकी कृपा का एक अंश ही प्राप्त किया।

‘शुद्ध चित्त से’ — पहले बुराई हटाओ, बाद में भलाई भी हटानी होगी।

‘उनकी सेवा करे’ — अर्थात् आज्ञा माने — अर्थात् आज्ञा का पालन करे। और आज्ञा है कि गायत्री जपो, गायत्री से भगवान का भजन, उपासना करो तथा हजार लोगों को गायत्री याद करावो। यह भजन वही है जिसके बारे में कहा है कि ‘मन का तदाकार हो जाना भजन है’।

उपासना अर्थात् ध्यान अर्थात् निरन्तर विचार, उपासना अर्थात् एक हो जाना। निरन्तर अर्थात् समय की दृष्टि से बीच में अन्य कोई व्यवधान न आने देकर, तथा अपने और ध्येय में कोई अन्तर ना समझते हुवे — “जो तुम हो सोही हम हैं और जो हम हैं सोही तुम हो”।

अब गायत्री के प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया जाता है।

ॐ — सर्वव्यापक, सब कुछ बनकर व्यापक, सबकी रक्षा करनेवाला, संकल्प से, न्याय से, यथायोग्य परिपालन से। बनाये रखनेवाला, ऐसा नहीं कि बना तो दिया भगवान ने, और अब हम स्वयं से ही जीवित हैं या अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। ये ‘सब’ तब तक है जब तक हमारी बुद्धि शुद्ध होकर हमें यह नहीं दिखाई देने लग जाता कि ‘सब’ तो मात्र प्रतीति है, वास्तव में सब ‘वही’ है।

भूः — सत् (सन्मात्र), सत्य होना, अस्तित्व, तथा मूल (वस्तु ?) भी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि भगवान ‘है’ नहीं है, बल्कि ‘हैपना’ — होने की क्षमता है। इसलिये, ‘यह’ या ‘वह’ भगवान नहीं है, भगवान है इन सब की ‘होने की क्षमता’

। इसी कारण से भगवान की अनेकता, और भगवान में अनेकता (आन्तरिक भेद) नहीं हो सकते। जो कुछ भी है, उसका 'हैपना', अस्तित्व भगवान है। होने की क्षमता सभी वस्तुओं में एक ही स्रोत से आई है, और वह स्रोत भगवान है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि यह 'सब' तभी तक है जब तक कि सम्यक् ज्ञान नहीं है।

भुवः — भावयति प्रकाशयति — चैतन्य, ज्ञान।

यहां भी ध्यान देने योग्य है कि भगवान 'चेतन' अथवा 'चेतना' नहीं है, बल्कि 'चेतनपना', 'चैतन्य' है। उपनिषद् में आता है — 'चेतनश्चेतनानां', सब चेतन वस्तुओं में चेतनपना, चेतन होने की क्षमता वह है। ऐसे ही भगवान ज्ञानी नहीं है, बल्कि ज्ञान है। महाराजी ने भी कहा है कि "वह ज्ञाता नहीं अपितु ज्ञान है"।

स्वः — सुखस्वरूप। संसार में सुख को लोग इन्द्रियों आदि के माध्यम से प्राप्त होनेवाला समझते हैं। यह धारणा गलत है। बृहदारण्यक में आता है :

एतस्यैव आनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति

इसकी व्याख्या में आचार्य शङ्कर कहते हैं :

“एतस्यैव आनन्दस्य मात्रां कलां अविद्याप्रत्युपस्थापितां विषयेन्द्रियसंबंधकालविभाव्यां ...”। तात्पर्य यह है कि विषय और इन्द्रियों के संपर्क से हुवा सुख अविद्या द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, नासमझी के कारण महसूस किया जाता है। सुख उस वस्तु में नहीं है, यदि होता तो सबको सर्वदा समान रूप से उसका अनुभव होता। ऐसा न होना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि सुख के स्रोत के विषय में हमारी धारणा गलत है। एक ही व्यक्ति को भी जिस मिठाई में अभी सुख प्रतीत होता है, वही पेट भर जाने पर नीरस, बेस्वाद जान पड़ती है, फिर यदि और भी खानी पड़े तो बुरे स्वादवाली भी प्रतीत होती है। धूम्रपान में एक को सुख प्रतीत होता है तो दूसरे को अत्यन्त कष्ट। तो फिर भगवान को जो सुखस्वरूप कहा उसका क्या तात्पर्य है? महाराजी ने कहा — “कोई दुःख नहीं इसलिये सुखस्वरूप”। उपनिषद् में भी आता है कि “न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः”, अर्थात् वह आत्मा (ब्रह्म, भगवान) दुःख से लिप्त नहीं होता क्योंकि वह इससे परे है। उपनिषद् में दूसरी तरह भी सुख का वर्णन आता है। छान्दोग्य में है कि “यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति”, अर्थात् जो असीम, अनन्त है, वह सुख है (उसमें नहीं, वह स्वयं सुख है), अल्प में सुख नहीं है (यहां 'अल्प में' कहा क्योंकि अल्प वस्तु परमात्मा से भिन्न समझी जाने के कारण ही अल्प प्रतीत हो रही है)।

तत् — वह अनन्त परमात्मा। अनन्त अर्थात् जिसका अन्त न हो। शङ्कराचार्य जी उपनिषद् की व्याख्या में कहते हैं कि किसी चीज का अन्त तीन प्रकार से हो सकता है — देश, काल तथा वस्तु से, अर्थात् ऐसा देश जहां वह वस्तु न हो, ऐसा काल जब वह वस्तु न हो तथा ऐसी अन्य वस्तु जो उस वस्तु से भिन्न हो। इन तीन प्रकारों से किसी वस्तु का अन्त हो सकता है। सो, भगवान इन तीनों ही प्रकारों से अनन्त हैं — न ऐसा कोई स्थान है जहां वे न हों, न ऐसा कोई समय है जब वे न हों, न उनसे भिन्न कोई अन्य वस्तु ही है। बृहदारण्यक

में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद की व्याख्या में वे कहते हैं कि अन्त अर्थात् विच्छेद, तथा आगे चलकर इसके प्रसंग में (धन का) विभाग (विभज्य) ऐसा कहते हैं। दोनों ही बातें एक ही अर्थ — विभाग, विच्छेद, तथा अन्तर को सूचित करती हैं। इसी को उपनिषद् के “जहां अन्य अन्य को देखता है”, इत्यादि के द्वारा भी समझा जा सकता है। इसी भाव के उपनिषद् में और भी वाक्य आते हैं, जैसे : “यह जहां थोड़ा सा भी अन्तर देखता है तो इसको भय होता है”। अनन्त के पश्चात् अर्थ में परमात्मा शब्द आता है। परमात्मा अर्थात् वह सबका आत्मा है, उसका और कोई आत्मा नहीं है। इस तरह इस आचार्य शङ्कर कृत उपनिषद् भाष्य में से ली गयी परिभाषा से अनवस्था दोष की निवृत्ति की जाती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि शाब्दिक रूप से तथा तात्पर्य की दृष्टि से भी ‘आत्मा’ शब्द का अर्थ ‘मैं’, अन्तरतम, सारतम आदि होता है। परमात्मा को इसी के द्वारा समझा जाना चाहिये — आखिरी मैं, सबका मैं, सबका अन्तरतम, सारतम, सबका स्वरूप। ऐसा जो परमात्मा है, वह अनन्त भी है। स्वाभाविक है कि कोई अपने से ही भिन्न नहीं हो सकता।

सवितुः — सबको उत्पन्न करनेवाला, सबको प्रेरणा करनेवाला।  
इसके विषय में अगले संस्करणों में लिखा जा सकेगा, अभी समयभाव है।

वरेण्यम् — ग्रहण करने योग्य, तारीफ़ के लायक। उपनिषद् में आता है :

तदेतत् पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा

अर्थात् यह आत्मा (परमात्मा) सबके द्वारा गन्तव्य तथा ज्ञातव्य है। सबके द्वारा का यहां विशेष अर्थ यह है कि हमें प्रत्येक वस्तु आदि से आत्मा के अस्तित्व का ही भान होना चाहिये। इस विषय में आचार्य शङ्कर कहते हैं कि यहां ‘अस्य’ तथा ‘सर्वस्य’ में निर्धारणार्था षष्ठी है और इनका तात्पर्य ‘अस्मिन्’ तथा ‘सर्वस्मिन्’ है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु में हमें आत्मा ही तत्त्व तथा सार रूप से दिखना चाहिये और उसी का हमको ग्रहण करना चाहिये, नाम-रूपादि बाह्य उपाधियों पर दृष्टि नहीं रहनी चाहिये। तारीफ़ के लायक — सारी की सारी तारीफ़ उसी की है, तथा सब कुछ वही है यह उसकी तारीफ़ है। ऐसी उसकी तारीफ़ है कि उपनिषद् कहती है :

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वम् विदितम्।

अर्थात् आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य तथा निदिध्यासन के योग्य है। आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान प्राप्त करने से यह सब (जो कुछ भी है, सब) जान लिया जाता है। छान्दोग्य में आता है :

“वही ऊपर है, वही नीचे है, वही बांये है, वही दांये है, वही आगे है, वही पीछे है, वही यह सब है।”

यह उसकी तारीफ़ है।

भर्गः — सब पापों का भर्जन करनेवाला शुद्ध तेजःस्वरूप।

पाप वह है जो हमें सत्य के अनुभव से वञ्चित करे, असत्य का अनुभव कराये

अथवा ऐसा करनेवाली वृत्ति बुद्धि, मन और इन्द्रियों में उत्पन्न करे अथवा दूढ़ करे। सत्य को जीवन में स्वाभाविक रूप से जीने की क्षमता को जो कम करे, उसकी अभिव्यक्ति में बाधा डाले, वह सब पाप है। 'जो वस्तु ईश्वर (परमात्मा) के निकट है वह श्रेष्ठ तथा जो दूर है वह निकृष्ट कहलाती है (सदाचार)' ऐसे सब पापों को जो सत्तामात्र से नष्ट करे, और नष्ट भी ऐसा कि फिर उनकी स्फुरणा भी न हो सके। भर्जन के बाद बीज की अंकुरित होने की क्षमता समाप्त हो जाती है। शुद्ध अर्थात् जिसमें स्वयं पाप नहीं है और अन्य कुछ भी नहीं है। एक से अधिक वस्तुओं से मिलकर बनी चीज वास्तव में शुद्ध नहीं है। सो, जो शुद्ध तेजःस्वरूप — एकमात्र तेज 'भक्तृ पक्तृ प्रकाशकं रोहितं चेति' (तेज अथवा अग्नि) स्वरूप से ही पापों को भर्जन करनेवाला, बिना किसी अन्य मिलावट के है, ऐसा।

देवस्य - प्रकाश और आनन्द का देनेवाला, दिव्यस्वरूप परमात्मा। प्रकाश का अर्थ महाराजी ने किया है 'विस्तार की इच्छा और उसको पूरा करने की शक्ति भी'। 'विस्तार की इच्छा' का एक स्थान पर उन्होंने अर्थ किया है कि 'मैं सबका आत्मा ही हो जाऊँ'। आनन्द है दुःख का अभाव। दिव्यस्वरूप है प्रकाशस्वरूप, अलौकिक। जो स्वयं यह सब बनकर विस्तृत है, और फिर सबसे परे अलौकिक भी है। परमात्मा — जो सबका आत्मा है, जिसका आत्मा और कोई नहीं है।

सो ऐसा जो सबका आत्मा है, जिसका स्वयं का और कोई आत्मा नहीं है, जो सब कुछ बनकर विस्तृत है और सबसे परे अलौकिक भी है, जो 'मैं सबका आत्मा ही हो जाऊँ', ऐसी इच्छा और साथ ही उसको पूरा करनेकी शक्ति भी देनेवाला है।

धीमहि — (उसका) हम सब ध्यान करते हैं  
'योऽसावादित्ये पुरुषः, सोऽसावहमस्मि ॐ खं ब्रह्म'। 'कि जो सूर्य में स्वर्ण जैसे रंग का प्रकाशस्वरूप पुरुष है, वह मैं हूँ'।

जो — ऐसा, पूर्वोक्त

सूर्य — जो सबको उत्पन्न करनेवाला, सबको प्रेरणा करनेवाला है ('सवितुः'), जो हम सबका आत्मा है ('सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुश्च')

में — (सूर्य) के बीच में, उसका सार, तत्त्व, आत्मा; परमात्मा। परमात्मा कहना इसलिये आवश्यक है ताकि यह सन्देह न रहे कि सूर्य के बीच में जो उसका आत्मा है, उसका फिर आत्मा कौन है ? परमात्मा से यह स्पष्ट है कि उसका फिर से अन्य कोई आत्मा नहीं है।

स्वर्ण जैसे रंग का — स्वयंज्योति, कभी मलिन न होनेवाला; यह अर्थ शाङ्करभाष्य में है।

प्रकाशस्वरूप — 'विस्तार की इच्छा और उसको पूरा करनेकी शक्ति भी है अपना रूप जिसका'।

पुरुष — 'पुरुषः सर्वपूरणात्' — जिसके द्वारा सब पूरित है। 'पूर्णत्वात् पुरुषः'

— जिसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि और कुछ यदि हो सके तो फिर यह पूर्ण कहाँ रहा ? 'उसके अतिरिक्त न कुछ हुवा, न होगा, न है।'

है — है।

वह मैं हूँ — ऐसा जो समस्त संसार के आत्मरूप सूर्य का भी आत्मा है, वह मैं हूँ अर्थात् वह मेरा स्वरूप है, वास्तव में मैं वह हूँ, यह शरीर आदि सीमित उपाधियाँ नहीं। 'आत्मन्येव स्वे कार्यकरणसंघाते आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं पश्यति।' अपने शरीर तथा इन्द्रियों और अन्तःकरण आदि में उस चेतन तथा चेतयिता आत्मा को देखता है, अर्थात् यह जानता है कि यह शरीर आदि उसी आत्मा का बनाया हुआ है। ऐसा भी तबतक ही देखता है जबतक कि शरीर में मैंपना है। 'तत्र किं तावन्मात्रं परिच्छिन्नं ? नेत्युच्यते। सर्वं समस्तं आत्मानमेव पश्यति, नान्यत् आत्मव्यतिरिक्तं बालाग्रमात्रमप्यस्तीत्येवं पश्यति।' तो क्या वह आत्मा परिच्छिन्न है, शरीरमात्र तक सीमित है ? नहीं। सबको आत्मा जानकर, आत्मरूप ही देखता है। आत्मा के अतिरिक्त बाल के अग्रभाग जितना भी और कुछ नहीं है, ऐसा देखता है। गायत्री माहात्म्य में एक श्लोक में आता है :

सोऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येनकेनचित्

अर्थात् जिस किसी तरह भी हो सके, सोऽहम् अर्थात् वह परमात्मा मैं हूँ ऐसा ध्यान करे। जिस किसी तरह इसलिये क्योंकि सभी व्यक्तियों की वृत्तियाँ भिन्न भिन्न होती हैं, सबको एक प्रकार से सुगमता नहीं प्रतीत होती। महत्त्वपूर्ण बात 'सोऽहम्' ऐसा ध्यान करना है, यह जिस तरह भी सुगमता से किया जा सके, करे।

'धीमहि' का अर्थ है — हम सब ध्यान करते हैं कि 'सोऽहम्', अर्थात् वह परमात्मा जिसकी पूर्वोक्त नौ नामों से स्तुति की गई है, वह मैं हूँ, वह मेरा वास्तविक स्वरूप है। जिन देह इन्द्रियादि को अपना स्वरूप समझ रखा है, वह तो पूर्णतया भ्रान्ति है। ध्यान अर्थात् निरन्तर विचार। विचार ऐसा, जिससे आगामी सभी क्रियाएँ और चेष्टाएँ इसी विचार के अनुरूप हों, देहात्मभाव का बन्धन क्षीण हो।

धियः (धियो) — बुद्धियों को। हम सबकी बुद्धियों को, मात्र मेरी नहीं। प्रार्थना सदा सबके लिये ही की जानी चाहिये। मात्र अपने लिये की जाने से तो वह परिच्छिन्नभाव जिसके कारण सब समस्याएँ हैं, वह और भी बढ़ ही जानेवाला है। बुद्धि के लिये प्रार्थना इसलिये है कि यही यदि वास्तविकता को ठीक-ठीक समझ ले तो अन्य काम सरल हो सकते हैं। ऐसा नहीं कि अन्य सब अपने आप हो जानेवाला है; मन के संस्कार, इन्द्रियों की वृत्तियाँ, शरीर का आलस्य आदि सहज में बदलनेवाले नहीं हैं, किन्तु यदि बुद्धि में बात दृढतापूर्वक बैठ जाये तो



अन्य सब किये जा सकने की आशा की जा सकती है। यदि बुद्धि में ही बात न जचे, तो अन्य कुछ हो पाने की आशा व्यर्थ सी ही है। मन में बात जच जानेपर भी काम बन सकता है, किन्तु इसमें यह ध्यान देने योग्य है कि पहले तो इस बात की संभावना ही कम है कि कोई अच्छी बात मन को जचे और बुद्धि को समझ न आये, पर यदि ऐसा हो भी जाये तो इसमें भय यह है कि बुद्धि से किसी बात की अच्छाई को जाने बिना मात्र मन के भरोसे किसी चीज को करना समझदारी नहीं है, उसमें अत्यन्त भय है। जैसा कि महाराजी ने 'भक्ति-मार्गम्' नामक लेख में लिखवाया है : “ ... जिसकी भक्ति की जाये, उसके माहात्म्यका ज्ञान रहे अर्थात् उसकी श्रेष्ठताका सदैव स्मरण रहे कि बिना भक्ति एक व्यभिचारियों के प्रेमके बराबर है।”

सो किसी भी चीज को अपनाने से पहले उसके माहात्म्य का ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा परिणाम आशानुकूल होना आवश्यक नहीं है, बल्कि अत्यन्त विपरीत भी हो सकता है।

न: — हम सबकी। मात्र मेरी नहीं।

य: — ऐसा जो परमात्मा है। कैसा? जैसा कि पहले स्तुति में बताया गया है।

प्रचोदयात् — प्रेरणा करे। किसमें? 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्रेरणा करे। संसार से हटाकर अपने स्वरूप में लगावे और शुद्धबुद्धि प्रदान करे। प्रेरणा वह है कि जिससे काम स्वयं हो जाये। दिशा भी और शक्ति भी। अब जिनमें प्रेरणा की प्रार्थना की है उन को ठीक समझना चाहिये।

धर्म — जो धारण करता है, अथवा धारण करनेयोग्य है। इन दोनों ही दृष्टियों से एक ही सा अर्थ निकलता है। धारण सबको परमात्मा करता है। धारण करने योग्य वह है जो सबको धारण करता हो और सब श्रेष्ठताओं का स्रोत हो, सो ऐसा तो परमात्मा ही है, अतः वही धारण करनेयोग्य है। महाराजी के एक भजन में बतायी गयी धर्म की परिभाषा द्रष्टव्य है — 'जो तोहे भावे धर्म है दूजा सभी असार'। सो भगवान की इच्छा ही परम धर्म है। 'भक्ति मार्गम्' में महाराजी ने लिखवाया :

“अपनी वासना स्थूल हो वा सूक्ष्म, किंचित् भी नहीं रहनी चाहिये। केवल परमात्मा की इच्छा को परम इच्छा समझकर उसको पालन करना और अपने मिथ्या अहं का उसमें विस्मरण करना ही अन्तिम पद वा मनुष्य-जीवनका मुख्य उद्देश्य है।”

द्रष्टव्य है कि यह अहं जो अभी है, यह मिथ्या अहं है। तरीका है अपनी इच्छा को मिटाना और परमात्मा की इच्छा को पूरा करने में ऐसा दत्त-चित्त होकर लग जाना जिससे कि इस मिथ्या अहं का विस्मरण हो जाये। अशुद्धबुद्धि में चैतन्य का प्रकाश पड़ने पर जो प्रतिबिम्ब बनता है वह मिथ्या अहम् ही होता है। वह अहम् अपने आपको शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियों आदि के रूप में समझता है। उसी मिथ्या अहं का विस्मरण — बुद्धिवृत्तियों में ऐसा परिवर्तन, उनका ऐसा शुद्धिकरण कि वह मिथ्या अहं फिर जाग्रत न हो। 'भक्ति मार्गम्'

में ही आगे कहा कि “भगवत् को छोड़ किसी वस्तु का आश्रय न लेना किन्तु तन मन प्राण और आत्मा को भगवत् से उत्पन्न हुवा जान और उसी के आधार समझ उसी में लीन कर देना ही जीवन का लक्ष्य है।” सबकुछ – अधिभूत भी, अध्यात्म भी (अधिदैव भी), उत्पन्न उसी से हुवा है, चल भी उसी के सहारे रहा है। अपना अलग अस्तित्व समझ कर बन्धन में पड़ गया है। उसी (परमात्मा) में लीन कर देने के द्वारा इस बन्धन से मुक्ति हो सकती है। यह लीन करना हमारा काम है, यही जीवन का लक्ष्य है। एक उपदेश में महाराजी ने कहा कि “सदाचारी जीवन में मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म यह है कि अपने आप को जाने। ... धर्म का तत्त्व यह है कि मनुष्य अपने आप को स्वतन्त्र रखे।” सो, ‘अपना आपा’ हमारा आत्मा ही है, और स्वतन्त्रता सर्वात्मभाव के बिना सम्भव नहीं। महाराजी ने सदाचार में लिखवाया भी है कि “जिस किसी भी कार्य से जीव में धीरे-धीरे ब्रह्मभाव का उदय हो, वह श्रेष्ठ है।” पूर्वोक्त धर्म – ‘अपने आप को जाने’ की ही दृष्टि से महाराजी ने मनुष्यमात्र के लिये नियमों में पहला नियम बताया कि “मनुष्य का पहला कर्तव्य है कि सद्गुरु की शरण में जावे और उनकी कृपा सम्पादन करने के लिये शुद्ध चित्त से उनकी सेवा करे।” अन्य सब नियम इसी नियम में सहयोगी होने की दृष्टि से उपयोगी हैं। इस प्रथम कर्तव्य में सद्गुरु वह हैं जो अपने आप को, अपने स्वरूप को जान चुके हैं, जिनकी उस स्वरूप में सहज, स्वाभाविक, अनायास, निर्विकल्प स्थिति है; इसके अतिरिक्त जो हमें अपने स्वरूप को जानने में सहायता कर सकते हैं। उनकी शरण में जाने से तात्पर्य है – उनकी अधीनता स्वीकार करना। यदि हम उनकी अधीनता ही नहीं स्वीकार करते, और अपने मन आदि के ही अनुसार (अधीन होकर) व्यवहार करते हैं तो श्रेयमार्ग में प्रगति सम्भव नहीं। उनके अधीन होना अर्थात् उनकी आज्ञा के अधीन होना। फिर उनकी कृपा सम्पादन करना क्यों आवश्यक है? ‘भक्ति मार्गम्’ में ही भक्ति के कर्तव्य सम्बन्धी साधनों के अन्त में साररूप से बतलाया गया है कि “सारांश यह है कि भक्ति महात्माओं की कृपा अथवा ईश्वर कृपांश से प्राप्त होती है।” इसमें भी ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का साधन महात्माओं की कृपा से ही प्राप्त होता है, ऐसा तो प्रकरण से स्पष्ट ही है। अतएव गुरुकृपा सम्पादन करे यह आवश्यक है। अब गुरु की कृपा सम्पादन करने का साधन क्या है ? वह है – “शुद्धचित्त से उनकी सेवा”। इस सेवा का स्वरूप क्या है? महाराजी से एक भक्त द्वारा यह पूछे जाने पर कि “सेवाओं में सबसे बड़ी सेवा कौनसी है?”, उन्होंने उत्तर दिया “आज्ञा मानना”। इस बात में तो समझने की दृष्टि से कोई कठिनाई है ही नहीं। गुरु स्वरूप के ज्ञाता हैं, स्वरूपस्थ हैं, हमें स्वरूप को जानने में सहायता कर सकते हैं, इतना होने पर उनकी आज्ञा हम मानें इसका तो हमारी प्रगति के लिये कर्तव्यरूप होना स्वतःस्पष्ट ही है। अब यह आज्ञापालन कैसा हो ? ‘भक्ति मार्गम्’ में हम इस विषय में निर्देश पाते हैं, यह निर्देश वहां तो है ईश्वर सम्बन्धी, वैसा ही हम गुरु के विषय में भी समझ सकते हैं। निर्देश है “अपनी सर्व वासनाओं (इच्छाओं) के ऊपर भगवत् इच्छा का अधिकार स्थापित करना

अर्थात् जितनी वासना फुरें सर्व भगवत् इच्छा से प्रेरित हों वा भगवत् इच्छा को पूर्ण करनेवाली हों और उसके विरुद्ध कोई वासना (इच्छा) न फुरने पाये।” इतने अभ्यास और साधन की तो आज्ञा मानने से पूर्व ही आवश्यकता है। इसके बाद हो आज्ञापालन। सो वह क्या मात्र यन्त्रवत् ही हो ? वैसा इष्ट नहीं। आज्ञापालन हो गुरु के और उनकी आज्ञापालन के ‘माहात्म्यज्ञान’ पूर्वक तथा उनकी ‘श्रेष्ठता के सदैव स्मरण’ सहित, जैसा कि पहले भक्ति तथा व्यभिचार के अन्तर में उद्धृत किया जा चुका है।

अर्थ — अर्थ तो अभिप्राय पर निर्भर है, ऐसा शङ्कराचार्य जी बृहदारण्यक उपनिषत् के भाष्य में कहते हैं। यहां विषय श्रेयमार्ग का है, आत्मज्ञान का है, सो अर्थ भी उसी के अनुसार निश्चित किया जाना चाहिये। ‘भक्ति प्रसंग’ में प्रथम पृष्ठ पर ही कहा है, “कोई कर्म करे वह भगवत् अर्पण हो ऐसे भक्तियोग द्वारा व्यवहार और परमार्थ में कुछ अन्तर नहीं रहता। वह जीवन-मुक्त हो जाता है।” यह स्थिति प्राप्त करना ही अर्थ - परमार्थ है। जीवन-मुक्ति भी यही है। ध्यान देने की बात यह है कि कर्म भगवत् अर्पण हो, अर्पण करना न पड़े, यह स्थिति परमार्थ है। इस अवस्थाकी, जो कि हमारा स्वरूप ही है, प्राप्ति के लिये पहले कर्म को भगवत् के अर्पण यत्नपूर्वक करना होगा, सो उस अर्थ में अर्थात् उस दिशा में हमारी बुद्धि को प्रेरणा करे। कर्म-मार्ग की दृष्टिसे गीता के श्लोक में कहा है —

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

ऐसी स्थिति ज्ञानी की होती है कि उसे करने या न करने से कोई मतलब नहीं रहता। उसका किसी से भी स्वार्थवश कोई सम्बन्ध या स्वार्थ के कारण किसी पर कोई निर्भरता नहीं रहती। ज्ञानमार्ग की दृष्टि से तो संसार ही नहीं रहता, फिर संसार से सम्बन्ध की तो बात ही क्या, यही इस मार्ग में परमार्थ है।

काम — प्रार्थना में महाराजी ने लिखवाया —

“अन्त में हमारी यही प्रार्थना है कि हम तेरे सच्चे भक्त बनें।” यह असली ‘काम’ है। आश्रम का प्रथम उद्देश्य भी महाराजी ने ‘श्री भगवान की भक्ति का प्रचार करना’ निश्चित किया। ज्ञानमार्ग की दृष्टि से गीता में वर्णित ‘प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्’ स्थितप्रज्ञ की यह कामनाओं को मार चुके होने की अवस्था प्राप्त करना ‘काम’ है। गीता की यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि ज्ञान और कर्म (भक्ति भी) अलग चीजें नहीं हैं — ‘सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः’

संक्षेपतः यह भी कहा जा सकता है कि अपने अपने मार्ग के अनुसार मोक्षार्थी होना ‘काम’ है।

मोक्ष — ‘अर्थ’ के तात्पर्य में पहले ही उद्धृत किया जा चुका है कि ‘भक्ति मार्गम्’ में प्रथम पृष्ठ पर ही कहा है, “कोई कर्म करे वह भगवत् अर्पण हो ऐसे भक्तियोग द्वारा व्यवहार और परमार्थ में कुछ अन्तर नहीं रहता। वह जीवन-

मुक्त हो जाता है।" ज्ञानमार्ग की दृष्टि से मोक्ष के वर्णन का उदाहरण बृहदारण्यक उपनिषत् में 4.4.7 में ऐसे आता है :

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतोऽभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत ॥

ज्ञानमार्ग में मोक्ष बन्धन के अभाव को जानना, अन्य या द्वितीय के अभाव को जानना, संसार के अभाव को जानना, व्यक्त और अव्यक्त के परे अपने स्वरूप को जानना है। जानने से तात्पर्य मात्र बौद्धिक जानकारी नहीं अपितु ऐसा निश्चय (निश्चय का स्वरूप आगे वर्णित है), अनुभव होना है। अनुभव भी अनायास, अच्युत, निर्विकल्प रूप से। कर्मयोगी की गीता में बतायी गयी निष्ठा 'निर्ममो निरहंकारः' अहंता तथा ममता रहित स्थिति मोक्ष ही है।

में प्रेरणा करे — इन पूर्वोक्त धर्मार्थ काम और मोक्ष में प्रेरणा करे, ऐसी प्रेरणा जो उस दिशा में गति-प्रगति का स्वतन्त्र तथा अनिवार्य (जिसका निवारण अन्य किसी से भी न हो सके) कारण होती है।

संसार से हटाकर — 'मैं' यह शरीरादि में अहंकार पहला संसार है, बाह्य संसार उसके बाद आता है। सो उन अहंकाररूपी प्रथम तथा बाह्य दृष्टिगोचर होनेवाले संसार से भी हटाकर, ऐसा हटाकर कि जैसे इनकी सत्ता ही न हो (वास्तव में इनकी सत्ता है भी नहीं, एकमात्र सद्बस्तु परमात्मा ही इन रूपों में हैं और उनकी ही प्रतीति अज्ञान के कारण इस प्रकार से हो रही है। सो, न हुई वस्तु से ही बुद्धि को हटाने की प्रार्थना है)।

अपने स्वरूप में लगावे — यहां 'अपने' से किसे इंगित किया जा रहा है, परमात्मा को, या हमें ? दोनों ही। क्योंकि पहले 'ध्यान' में यह कहा जा चुका है कि 'वो मैं हूँ' तथा प्रार्थना का भी उद्धरण दिया जा चुका है — "जो तुम हो सोही हम हैं और जो हम हैं सोही तुम हो, ऐसे ऐक्यभाव से हम तुम्हारा ध्यान करते हैं।" अतः यह तो प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये कि 'अपने' से किसकी ओर लगाने का तात्पर्य है। 'स्वरूप' से स्मरण कराया जा रहा है उन नौ नामों का जिनसे स्तुति की गयी है तथा जो सार्थक होने के कारण भगवान के स्वरूप और गुणों को हमें ज्ञापित कर चुके हैं; इसके अतिरिक्त जो 'सोऽहम्' के ध्यान में 'योऽसावादित्ये पुरुषः' का अर्थ है, वह भी उसी का (इसी लिये हमारा भी) स्वरूप है। सो, उस स्वरूप में हमारी बुद्धियों को लगावे, संसार से हटाकर, मिथ्या अहं से हटाकर और अविद्या द्वारा आरोपित बाह्य संसार (जो कि वास्तव में 'बना-तना ब्रह्म ही है') से हटाकर।

और शुद्धबुद्धि प्रदान करे — शुद्धबुद्धि ऐसी जैसी कि महाराजी ने प्रार्थना में लिखवायी — "हमें वह पवित्र दृढात्मिका बुद्धि प्रदान करो कि जिस में केवल एकमात्र तुम्हारा ही दृढ विश्वास तथा निश्चय हो।" दृढ शब्द, विश्वास तथा निश्चय, दोनों का विशेषण है। दृढ विश्वास तथा निश्चय के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि एकमात्र भगवान ही सत्य होने से तथा इस संसार की प्रतिष्ठा होने

से विश्वसनीय हैं, 'अतो न्यदार्तम्' इस बृहदारण्यक उपनिषत् के वाक्य के अनुसार अन्य सब विनाशशील होने से विश्वसनीय नहीं है, वैसे वह जब तक दृष्टिगोचर हो रहा है तब तक भी मिथ्या होने से विश्वसनीय नहीं है। सो जब एक परमात्मा ही विश्वसनीय हैं तो यह उचित ही है कि दृढ निश्चय भी उन्हीं का हो - कि उनके अनुकूल ही हमारा समस्त आचरण हो। यह दृढ विश्वास तथा निश्चय साधना के समय विशेष उपयोगी है। दूसरा अर्थ सिद्धि के उपरान्त की अवस्था को निर्देशित करता है। दृढ विश्वास यह कि 'वो मैं हूँ', यह साधनाके समय की बात है। इस विश्वास का कारण है गुरु के वचन पर विश्वास - "उन सद्गुरु के वचनों पर दृढ विश्वास रखे", ऐसा मनुष्य के लिये दूसरा नियम महाराजी ने लिखवाया और उन्हीं सद्गुरु ने गायत्री का उपदेश किया तथा उसमें बताया कि 'सोऽहम्' का ध्यान करे। सो 'सोहम्' पर दृढ विश्वास होना ही चाहिये। दृढ विश्वास के बाद निश्चय की बात है, दृढ शब्द निश्चय का भी विशेषण है। ऐसा सुना गया है कि महाराजी कहते थे कि 'दृढ निश्चय ही ज्ञान है।' यह दृढनिश्चय अपने मन की कल्पना के आधार पर किया गया निश्चय नहीं है। आचार्य शङ्कर इसकी पद्धति बृहदारण्यक में बतलाते हैं। वे कहते हैं कि "शास्त्र और आचार्य का वचन (उसका श्रवण)। फिर अनुमान और उपपत्ति, फिर निश्चय।" इसमें क्योंकि शास्त्र और आचार्य के वचन पर दृढ विश्वास है, इसलिये उसका तात्पर्य ग्रहण करनेके लिये अनुमान किया जाता है। अनुमान शब्द का अर्थ लोकप्रचलित 'अंदाज' नहीं है अपितु बतायी गयी बात का तात्पर्य ग्रहण करने के लिये उपपत्ति सहित चिन्तनपूर्वक लक्ष्यार्थ का निर्णय करना है। ऐसा इसलिये क्योंकि शास्त्र की महत्त्वपूर्ण बातों का लक्ष्यार्थ लिया जाता है, वाच्यार्थ नहीं। विवेक-चूडामणि में आचार्य शङ्कर 'महावाक्य विचार' के प्रकरण में कहते हैं कि -

“एक्यं तयोर्लक्षितयोर्नवाच्ययोर्निगद्यतेऽन्योन्यविरुद्धधर्मिणोः”

सो अनुमान से वही लक्ष्यार्थ निश्चित किया जाता है जिसकी सम्यक् उपपत्ति होती हो। मात्र वाच्यार्थ को लेने वाले 'अविवेकी' पुरुषों के तो डर से उपनिषद् को भी स्पष्टीकरण देना पड़ता है। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य में 'भूमा' की 'महिमा' का वर्णन (सब कुछ वही है आदि) करने के बाद उस में 'अहंकारादेश' (वही मैं हूँ, इस चिन्तन का आदेश) किया गया है, परन्तु, तुरन्त ही, इस भय से कि अविवेकी लोग 'अहंकार' से शरीरादि अर्थ ग्रहण करते हैं, उसी भूमा में 'आत्मादेश' किया गया है। आचार्य शङ्कर अपने भाष्य में लिखते हैं - "अहङ्कारेण देहादिसङ्घातोऽप्यादिश्यतेऽविवेकिभिरित्यतस्तदाशङ्का मा भूदिति आत्मादेशः"। अर्थात् अहंकार से अविवेकी लोग देहादि-संघात भी अर्थ लगा लेते हैं, अतः आत्मादेश किया जाता है। सो, अनुमान और उपपत्ति के उपरान्त अनुभव। अब अनुभव के लिये प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। सभी मार्गों की अपनी अपनी प्रक्रियाएं हैं। महाराजी द्वारा बताये गये गायत्री-जप की भी अपनी प्रक्रिया उन्होंने बतायी ही है - इसके अर्थ का विचार करते हुवे इसका जप किया जाये। माहात्म्य में श्लोक आता ही है कि -

“सोऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येनकेनचित्”

अर्थात् जिस किसी तरह भी हो सके ‘सोऽहम्’ का ध्यान – निरन्तर-विचार करे। सो इस प्रक्रिया को करे, यथासंभव निरन्तर करे, तब तक जब तक कि अनुभव स्थिर न हो जाये, अनायास, अच्युत, निर्विकल्प न हो जाये। यह कहना भी आवश्यक है कि ‘सोऽहम्’ के निरन्तर ध्यान का यह तो स्वाभाविक अर्थ है ही कि समस्त आन्तरिक और बाह्य, शारीरिक और मानसिक क्रियाएं और चेष्टाएं ‘सोऽहम्’ के अनुरूप करने का प्रयास हो, अन्यथा मात्र मन में सोऽहम् का ध्यान या विचार स्वल्पफलप्रद ही होगा।

गायत्री का फल उपनिषद् के इस मन्त्र से समझा जा सकता है —

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।

किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

अर्थात् यदि किसी तरह मनुष्य यह जान जाये कि यह आत्मा (जो पहले परमात्मा की स्तुति द्वारा बतलाया जा चुका है) मैं हूं, तो फिर किस इच्छा से और किस प्रयोजन से वह शरीर के पीछे, अर्थात् शरीर की अवस्थाओं के पीछे, ज्वरग्रस्त के समान उद्विग्न हो। परन्तु सावधान, यह तमोगुणी निश्चेष्टता नहीं है, अपितु गुणातीत की स्वाभाविक, सहज, ‘नेति नेति’ से निर्दिष्ट, निर्विकल्प अवस्था है; इसे अवस्था भी उपचार से ही कहा जाता है, वास्तव में तो यह अवस्था भी नहीं है, मन, वाणी और बुद्धि से सर्वथा अतीत है।